अनन्तर/जनसत्ता/२५ मार्च, २००७

जीवन की लय

ओम थानवी

चार्ली चैप्लिन की मूक फिल्मों का जमाना आपको याद होगा। वाचाल युग में बनी संवादहीन 'यादें' (सुनील दत्त) और 'पुष्पक' (कमल हासन) भी आप भूले न होंगे। लेकिन क्या आज आप ऐसी फिल्म की कल्पना कर सकते हैं जिसमें न अभिनय हो, न कथा-पटकथा, न संवाद; और तो और नमाज या पृष्ठभूमि में किसी लोकस्वर के अपवाद को छोड़कर मानव की आवाज भी न हो?

एक सफर में जब 'पोवाक्कात्सी' की डीवीडी खरीदी, उसकी पीठ पर दो और फिल्मों का नाम दर्ज था। 'कोयानिसकात्सी' और 'नाकोयकात्सी'। यह कोई त्रयी थी। फिल्म के पारंपरिक उपादानों को ताक पर रखकर किया गया प्रयोग। 'पोवाक्कात्सी' देखने के बाद उन दो फिल्मों की तलाश मैंने बेसब्री से की। सोचते हुए कि तीनों देख लेने के बाद ही स्तंभ में उनकी चर्चा करना मुनासिब होगा।

तीनों फिल्में मेरे सामने हैं। इनमें तीसरी- 'नाकोयकात्सी'- यह लेख लिखने के बाद शायद कूड़ेदान के हवाले कर दूं, क्योंकि घर में जगह कम है। 'कोयानिसकात्सी' संभाल कर रखूंगा। लेकिन 'पोवाक्कात्सी' की प्रतियां बनवाऊंगा और दोस्तों में बांटूंगा - जैसे जब-तब 'उम्बेर्तो डी' (डी सीका) 'पथेर पांचाली' (सत्यजित राय) या इकीरू (अकीरा कुरोसावा) जैसी फिल्मों की बांटता आया हूं।

'पोवाक्कात्सी' एक नायाब फिल्म है। 'कोयानिसकात्सी' की तरह वह दिलचस्प और कल्पनापूर्ण फिल्म है; मगर दृष्टि उसमें ज्यादा गहन है।

मगर त्रयी की इन मुश्किल नाम वाली फिल्मों को किसी विधा का नाम देना मुश्किल होगा। इन्हें आप शायद वृत्तचित्र के दायरे में न रख सकें। वे पूर्ण अवधि (औसतन डेढ़ घंटा) की फिल्में हैं। किसी एक विषय पर केंद्रित नहीं हैं और उनमें कोई वृत्तांत भी नहीं है। मगर उन्हें फीचर फिल्म करार देने में भी आपको शायद संकोच हो। अच्छा होता निर्देशक गॉडफ्री रेगियो खुद विधा को कोई नाम दे देते!

फिल्म जगत में इस बात पर बहुत बहस हुई है कि कला-फिल्म किसे कहा जाय। कभी छोटे बजट की गैर-व्यावसायिक फिल्मों को कला-फिल्म कहते थे। बाद के दौर में उबाऊ और लीक से हटकर बनने वाली हर फिल्म कला-फिल्म का दर्जा पाने लगी। कभी कटाक्ष, कभी तिरस्कार के भाव में। लेकिन रेगियो की पहली दो फिल्में देखने के बाद लगता है इन्हें सम्मानजनक ढंग से कला-फिल्में कहा जा सकता है।

रेगियो न्यू ऑरलीन्स में जन्मे, उपवास और प्रार्थना करते चौदह बरस भिक्षु की दीक्षा में बिताए। अध्यापन किया। नागरिक अधिकारों के आंदोलन से जुड़े। फिर शैक्षणिक गतिविधियों के लिए इंस्टीट्यूट फॉर रीजनल एजुकेशन नाम से एक स्वैच्छिक संस्था खड़ी की। चौबीस वर्ष पहले उन्होंने अपनी पहली फिल्म 'कोयानिसकात्सी' बनाई और फिल्म संसार को झकझोर दिया। पांच साल बाद 'पोवाक्कात्सी' बनाने के लिए उन्हें फ्रांसिस फोर्ड कोपोला जैसे निर्माता भी मिल गए। लेकिन २००२ में शृंखला की तीसरी फिल्म 'नाकोयकात्सी' के साथ उनका जादू उतर गया। उसके बाद वे पर्यावरण और वन्य जीवन पर दो वृत्तचित्र ही बना सके हैं। तो क्या।

'**का**त्सी' होपी भाषा का शब्द है। अमेरिकी रेगिस्तान एरिजोना में महज पांच हजार लोगों का आदिवासी होपी समुदाय सदियों पुरानी भाषा को बचाने की जद्दोजहद में रत है। हालांकि रेगियो की फिल्में न होपी समुदाय पर हैं, न उनकी किसी समस्या का बखान। बात यह थी कि रेगियो अपनी फिल्मों को नाम नहीं देना चाहते थे। चाहते थे नाम की जगह कोई प्रतीक या छवि रख दी जाए। वितरकों का दबाव पड़ा तब उन्होंने उस भाषा की तरफ देखा, जो- दूसरी अल्पसंख्य भाषाओं की तरह- मृतप्राय थी।

होपी में 'कात्सी' का अर्थ है जीवन। रेगियो परदे पर मानव जीवन के उस लालित्य को चित्रित करना चाहते थे, जिसे काफी-कुछ अंधे विकास ने लील लिया है। अर्थ खोते जीवन को रूपायित करने वाले सिनेमा

के लिए पहचान खोती भाषा से बेहतर प्रतीकात्मक संगति शायद दूसरी न होती। इन फिल्मों के लिए प्रयुक्त शब्द दुनिया के लिए अजनबी थे। इसलिए उन पर अर्थ का बोझ नहीं था। रेगियो इसे 'सांस्कृतिक बोझ' कहते हैं। जिन लोगों ने रेगियो को ऐसे सिनेमा की प्रेरणा दी, उनमें शिक्षाशास्त्री इवान इलिच एक थे।

इन फिल्मों के नाम का भावार्थ है: कोयानिसकात्सी- डगमग जीवन; पोवाक्कात्सी: अंतरण; नाकोयकात्सी: जीवन जैसे जंग। सिनेमा की बुनियादी भाषा दृश्य और उसकी संभावनाओं में अटूट भरोसा रखते हुए रेगियो इन फिल्मों में सिर्फ संगीत का सहारा लेते हैं। उनकी किस्मत थी कि मशहूर संगीतकार फिलिप ग्लास इसके लिए तैयार हो गए। रेगियो की तरह वे भी जागरूक शख्स हैं। आठवें दशक में तिब्बत की स्वाधीनता के समर्थन में उन्होंने रिचर्ड गेर के साथ मिलकर कोलंबिया विश्वविद्यालय में तिब्बत प्रतिष्ठान की स्थापना की थी। अब तो वे कई फिल्मों में संगीत दे चुके हैं, रविशंकर के साथ एक फ्रांसीसी फिल्म में भी। लेकिन रेगियो ने प्रस्ताव किया तब उनके मन में फिल्म संगीत को लेकर कई शंकाएं थीं। सैमुअल बैकेट के इक्के-दुक्के नाटकों को छोड़कर दृश्य के साथ संगीत के रिश्ते की वे कल्पना नहीं करते थे। 'कोयानिसकात्सी' में शब्द नहीं होंगे, सिर्फ संगीत होगा- इस खयाल से ग्लास अंतत: राजी हो गए। बाद में वे रेगियो के जोड़ीदार ही हो गए। त्रयी के लिए उन्होंने जिस संगीत की रचना की, उसे आप उन फिल्मों की रीढ़ कह सकते हैं। इस संगीत की बाजार में भी अलग से मांग रही। कई देशों में ग्लास के दल ने 'कोयानिसकात्सी' के प्रदर्शन के साथ वे संगीत रचनाएं प्रत्यक्ष पेश कीं।

'**को**यानिसकात्सी' प्रकृति और आधुनिक जीवन के अंतर्द्वंद्व को कैमरे की पैनी नजर से देखती है। छायाकार रॉन फ्रिक- जिन्होंने फिल्म के संपादन में भी हिस्सा लिया है- कैमरे को लोगों और जगहों के बीच एक निराग्रही साक्षी की तरह बरतते हैं। फिल्मांकन की एक खूबी यह है कि फिल्म की गति देर तक मंथर (स्लो-मोशन) रहती है, बाद में तीव्र हो जाती है। ग्लास के संगीत में उतार-चढ़ाव नाटकीय ढंग से घटित होता है। रोशनी और संगीत का यह द्वंद्वात्मक रिश्ता, दूसरे स्तर पर, प्रकृति और तकनीक के द्वंद्व की याद दिलाता है। फर्क यही है कि तकनीक की भयावहता में जीवन की चूलें उखड़ जाती हैं, जबकि धीमे दृश्य और गतिमान संगीत मिलकर फिल्म के लिए एक ताल बांध देते हैं। खयाल करें, जहां दृश्यों में धीमी या तेज गति है, उन दृश्यों का फिल्मांकन उसी गति में हुआ है। वह संपादन का कौशल कतई नहीं है। इस वजह से सामान्य गति में दृश्यों का पैनापन आहत नहीं होता और अपेक्षित प्रभाव भी गहन होता है।

फिल्म एक आदिम गुफा-चित्र से शुरू होती है और उसी पर खत्म। काल की भीत पर इन जड़ मूरतों की छवि आगे हमें चलते-फिरते लोगों में भी दीखने लगती है। रेगियो पहले हमें प्रकृति की लीला दिखाते हैं। अनुपम पर्वत शिखर और बादलों की बहुविध छायाएं। ठहरे हुए बादल, फैलते, पसरते, बहते, पहाड़ों पर रेंगते, चोटियां लांघते, कूदते और नाचते हुए। फिर जल। ठहरा हुआ सागर और झिलमिल पानी। कल-कल बहता दरिया। अचानक जैसे कैद से बाहर आता पानी, बांधों को फांदता हुआ। लहरों से जूझती लहरें। खेत। वनस्पतियां। फूलों की क्यारियां। लोगों के रेले। तेज भागते, भागते खाते, खाते बतियाते। बाजार, स्टेशन, सड़कें-चौराहे। सब भीड़ से अंटे हुए। हर तरफ मानो कोई अंधी दौड़।

फिर हमारे सामने औद्योगीकरण के प्रतीक आते हैं। मशीनों पर काम करते लोग, टीवी के गड्डमड्ड परदे, बिजली के बड़े खंभे, आकाश और धरती को एक करती अजगर-सी पाइपलाइन, ट्रेकर पर छाता काला धुआं, धुआं उगलती चिमनियां, प्रदूषित झीलें, अट्टालिकाएं, नए निर्माण के लिए ढहाई जाती इमारतें। सेटेलाइट से नजर आते शहर, गोया कंप्यूटरों के भीतर का कोई जाल हों। विमान, टैंक, युद्धपोत, बम, राकेट। और युद्ध। परमाणु विस्फोट। आकाश में तनता हुआ विशाल काला गुबार- साक्षात किसी प्रेत की तरह।

इस दृश्यावली की कमजोरी यह है कि तुलनात्मक चित्रण इसमें जरूरत से ज्यादा मुखर है। फिल्म शब्दों से बचती है, लेकिन वक्त-बेवक्त दृश्य भी शब्दों की तरह बड़बोले होने लगते हैं। तसल्ली यह कि दृश्यों में तारतम्य बहुत है। अपोलो-१२ जैसे कुछेक उधार के (आर्काइव) दृश्यों को छोड़कर सारा फिल्मांकन सहज है और आधुनिक सभ्यता के आम पहलुओं पर केंद्रित है। उसमें प्रतीकात्मकता भी सहज परिलक्षित है। जैसे

किसी भयावह परमाणु संयंत्र से थोड़ी ही दूरी पर अलसायी धूप में औंधे पड़े अर्द्धनग्न अमेरिकी। कहीं टूटे हुए बल्ब और खंडित खिड़कियां: मानो हर तरफ दुर्लभ होती रोशनी। और अंत में प्रक्षेपित राकेट ('एटलस'), किसी पंछी के कटे पर की मानिंद लौटकर पृथ्वी की ओर आता हुआ।

फिल्म में संगीत के साथ दो-तीन जगह प्राकृतिक आवाजों का भी सुंदर इस्तेमाल है। मसलन उड़ती हुई रेत की सरसराहट, झरने की छुल-छुल या आदिम गुफा में चमगादड़ों की फड़फड़ाहट।

'**पो**वाक्कात्सी' रेगियो की पहली फिल्म को बहुत पीछे छोड़ आती है। कथ्य में वह 'कोयानिसकात्सी' का विस्तार है। थोड़ा-बहुत भूल-सुधार भी। इसमें सारे दृश्य गैर-व्यवस्थित यानी सहज हैं; निर्देशक के मुताबिक उन्होंने सिर्फ एक जगह भारी-भरकम ट्रक की ओट में बच्चे को चलने को कहा। प्रकृति और जीवन का फासला इस फिल्म में भी जाहिर है। लेकिन इसमें वह किसी टिप्पणी की तरह प्रकट नहीं होता। बड़ा फर्क यह है कि 'कोयानिसकात्सी' जहां अमेरिकी जीवन शैली से आक्रांत थी, 'पोवाक्कात्सी' की भाव-भूमि तीसरी दुनिया है। फिल्मकार उदार नजरिए से पारंपरिक समाजों के उजले पक्ष चीन्हता है। अविकसित या विकासमान कही जाने वाली दुनिया की समृद्ध सांस्कृतिक आभा को। मगर साथ में वह प्राचीन सभ्यताओं के हश्र की ओर भी अंगुली उठाता है। चिर-परिचित शैली में वही मंथर दृश्यावली, डूबता-उतराता संगीत। इस फिल्म के दो छायाकार हैं, ग्राहम बेरी और लियोनिदास जूरदुमिस। पहली फिल्म के छायाकार रॉन फ्रिक (खुदु ऐसी फिल्में बनाने के लिए) भले अलग हो गए, लेकिन दोनों नए छायाकारों ने बहुत अनूठा काम किया है। फिलिप ग्लास इस फिल्म में जब-तब स्थानीय वाद्यों का पुट भी लाते हैं।

फिल्म के केंद्र में हैं एशिया, अफ्रीका, मध्यपूर्व और दक्षिणी अमेरिका। वह ज्यादातर केन्या, ब्राजील, इजरायल, मिस्र, भारत, नेपाल और चीन आदि देशों में फिल्माई गई, इसलिए उसमें अनेक प्रतिभाएं शरीक हैं। भारत में उसका काम संभालने वालों में श्याम बेनेगल भी थे। कोलकाता, चेन्नई, मुंबई, वाराणसी, कांचीपुरम, जयपुर, जैसलमेर और पुष्कर के कुछ बेहद प्रभावशाली दृश्यों का फिल्मांकन हुआ है जो- फिल्म के कथ्य के अनुरूप- प्राचीन सभ्यताओं के सौंदर्य और विचलन को उजागर करता है। फिल्म में ग्रामीण समाज की कला, इत्मीनान और मुस्कुराहटें अब भी कायम दीखती हैं; जबकि शहरी जीवन में आपाधापी और बेचैनी व्याप्त है। 'पोवाक्कात्सी' के होपी में कई अर्थ हैं, जिनमें एक यह भी है: जीने के लिए दूसरे की जिंदगी का हरण या भक्षण। सामाजिक असंतुलन या विकास के द्वंद्व में घर करती उस हकीकत को फिल्म संकेतों में बयान करती है। हंसी पर हावी हिंसा, मौन पर भारी शब्द, पगडंडियों को ढकते महामार्ग, पहाड़ ढहाते बुलडोजर, गांवों को डसते शहर। जैसे खोना और होना!

मगर इसका मतलब यह न निकालें कि रेगियो नई दुनिया को सकारात्मक ढंग से नहीं देखते। वे उसके नकारात्मक पहलुओं को छूते हैं, पर निराशा के दयनीय अंदाज में नहीं। 'पोवाक्कात्सी' में श्रम को वे बहुत महत्त्व देते हैं। फिल्म की शुरुआत ही ब्राजील में सेरा पेलादा की सोने की खान से होती है, जहां कतार में श्रमिक पहाड़ी पर मिट्टी भरे गीले बोरे ढो रहे हैं। कदम-ताल जैसे ऊंचे संगीत के बीच शांत, निर्विकार और लगभग यंत्रवत। दुर्घटना भी उस परिवेश में कोई हादसा नहीं बनती। आगे खेतों की गुड़ाई करते किसान हैं। पत्थर तोड़ते मजदूर। सिलसिला आगे बढ़ता जाता है। गारा ढोती औरतें दिखाई पड़ती हैं। फिर बच्चे के साथ सिर पर घास का गट्ठर ढोए जाती पहाड़िन। समंदर किनारे मछलियां बीनतीं मछुआरिनें। दोनों कंधों पर घड़े ढोता, पगडंडी नापता नेपाली मजदूर। नाव खेते मल्लाह। आंगन में बैठकर चक्की चलाती राजस्थानी स्त्रियां। कुएं पर पानी सींचती औरतें। बच्चा पीठ पर बांध, बालटी सिर पर थामे पथरीली पगडंडी से गुजरती एक अफ्रीकी युवती।

यह श्रम का संगीत है। श्रम जहां तरस का तलबगार नहीं। न वे रुआंसे, हताश या गमगीन चेहरे हैं। न जीवन से उकताए हुए। वे अपने उद्यम में मग्न लोग हैं। नियति से हारे हुए नहीं। उसे झेलते, जूझते और अक्सर मुस्कुराते हुए।

'पोवाक्कात्सी' में रंग गहरे और स्वाभाविक चमक के साथ उभरते हैं। लेकिन फिल्म की सबसे बड़ी

खासियत उसकी लय है। मंथर छायाकारी की नहीं, फिल्म के दृश्यों में व्याप्त लय। जगह-जगह वह हमारे सामने अनेकानेक दृश्यों में प्रकट होती है। जैसे ताड़ पर चढ़ता कोई युवक, जाल फेंकता मछुआरा, कोहरे में ग्रामीण, ऊंटों की चाल, हिचकोले खाती नाव, हवा में तनती नाव की पैबंद लगी पाल, पहाड़ी खेतों की क्यारियां, पर्वतों की ढलान, रेगिस्तानी ढाणी (बस्ती) में गोबर लिपे घर, पानी में सूरज की डोलती छाया, घने पक्षी विहार में सारसों का सुस्ताना। दीप जलाते, नमाज पढ़ते, प्रार्थना करते, अर्घ्य चढ़ाते आस्तिक। और इनके साथ मुल्क-मुल्क के नाच और कार्निवाल। मानो दृश्यों में जीवन की सार्वभौमिक लय का कोई छंद हो।

इसके बाद फिल्म आधुनिक शहरी जीवन और समाज की विसंगतियों की तरफ मुड़ती है। हम लगातार चलती जाती मालगाड़ी का शोर सुनते हैं। बाजार की जगमग देखते हैं। गगनचुंबी इमारतों के जंगल से गुजरते हैं। गरीब बस्तियों की पृष्ठभूमि में उड़ान भरता विमान निहारते हैं। खेलते बच्चों के बाद मजदूर बच्चों को; गंगाघाट पर मन का मैल निचोड़ते श्रद्धालुओं के साथ धोबीघाट पर धुलते कपड़ों का दृश्य देखते हैं। या सूखते कपड़ों के पीछे जमीन पर उतरता जंबो जेट। अक्सर ये दृश्य पार जाते हुए धुंधला जाते हैं। इस बिम्ब के भी कई मायने मन में कौंध सकते हैं।

असल में फिल्म जो कुछ 'कहती' है, प्रतीकों और बिम्बों में कहती है। किसी कहानी के अभाव में फिल्म एक निराला अनुभव है। संवाद या वर्णन की गैर-मौजूदगी में फिल्म हमारे और करीब आ जाती है। किसी अन्य कला की तरह वह हमें अर्थ की आजादी देती है। अपने सृजन में भागीदार बनाती है। दर्शक अपने अनुभव या आग्रह के मुताबिक उसमें यथार्थ की अनगिन छवियां देख सकता है, नए अर्थ खोज सकता है। लेकिन फिल्म में निष्कर्ष या संदेश तलाशने की कवायद फिल्म का मजा किरकिरा ही करेगी। जैसा कि गॉडफ्री रेगियो ने कभी एक बातचीत में कहा था, अगर आप अर्थ पाना चाहते हैं तो इश्तहार पढ़ सकते हैं। ''मेरी फिल्में आपको कुछ चीजों से दो-चार करा सकती हैं। सवाल दे सकती हैं। लेकिन जवाब हरगिज नहीं। जवाब मेरे पास हैं ही नहीं।''

'पोवाक्कात्सी' के कुछ दृश्य मैं कभी नहीं भूल सकता। जैसे वह जिसमें कैमरा बच्चों के झुंड पर ठहरा है। धीमे-धीमे वह हर एक चेहरे पर जाता है। गरीब- संभवत: शाला से वंचित- बच्चों की आंखों में हम कभी कुतूहल पढ़ते हैं, कभी सपने। चपल आंखें, आतुर होंठ, रुकी-सी मुस्कान। आखिरी फ्रेम में बच्ची की गोद में बीमार बच्चा है शायद उसका छोटा भाई। बच्चे की दुखती आंखें आपके भीतर इस कदर आ बैठती हैं कि कई दृश्य आगे निकल जाने के बाद तक आपको वे करुण आंखें दिखाई देती हैं।

ऐसे ही केरल के किसी सागर तट का दृश्य है। हम एक नमाजी की पीठ देखते हैं। फिर कैमरा पीछे सरकता जाता है। दृश्य में पेड़ के तने दिखाई देते हैं। उसके बाद तन कर खड़े ताड़ के पेड़ों का हुजूम। दूर जाकर दृश्य ऐसी भंगिमा में बदल जाता है मानो एक तरफ प्रकृति का विराट हो और दूसरी तरफ, उसके सामने, नतमस्तक लघुमानव।

फिल्म में एक दृश्य महात्मा गांधी का भी है। तपते हुए सूरज के दूसरी तरफ उनकी प्रतिमा है। लाठी की मूठ पर एक गौरैया है। आप समझते हैं, वह भी मूर्तिशिल्प का हिस्सा होगी। मगर सहसा वह उड़ जाती है।

रेगियो गांधीजी से बहुत प्रभावित जान पड़ते हैं। कम से कम गांवों के मोह के साथ तकनीक से उनका दुराव (''हम तकनीक का इस्तेमाल नहीं करते, उसे जीते हैं'') यही जाहिर करता है। लेकिन विडंबना देखिए कि दो शानदार अबोली फिल्में बनाकर 'नाकोयकात्सी' में वे उसी तकनीक के गुलाम हो गए। फिल्म में अस्सी फीसद दृश्य मांगे हुए हैं। कमोबेश पूरी फिल्म में दृश्यों को कंप्यूटर की मदद से आंका-बांका कर बनावटी प्रभाव पैदा करने की कोशिश है। शायद कोई दिलदार निर्माता न मिलने की वजह से ऐसा हुआ हो। या सिलसिले को त्रयी बनाने की बेताबी में।

जो हो, पहली दो फिल्मों से इतिहास में रेगियो ने अपनी जगह बना ली है। फिर, जैसे किसी गजल में सारे शेर उम्दा नहीं होते, किस त्रयी में तीनों फिल्में दुरुस्त ठहरी हैं?